

[सर्ग ७]

इति स्तुवंस्तापसराट् त्रिवेणीं शाट्या समाच्छाद्य कटिं कृपीटे ।
दोहद्वयमोद्धृतवेणुदण्डोऽधमर्षणस्नानमना बभूव ॥ ७१ ॥

त्रिवेणी की इस प्रकार स्तुति कर तापसराज शङ्कर ने पानी में खड़े
कर अपनी कमर को वस्त्र से ढका और दोनों हाथों से दण्ड को ऊपर
ठाकर अधमर्षण स्नान करने की अभिलाषा की ॥ ७१ ॥

सन्तौ प्रयागे सह शिष्यसंघैः स्वयं कृतार्थो जनसंग्रहार्थी ।

स्मरामाताऽपि च सा पुषोष दधार या दुःखमसोढ भूरि ॥ ७२ ॥

प्रयाग में शिष्यों के साथ स्नान कर जन-संग्रह की इच्छा करनेवाले
जनार्थ स्वयं कृतार्थ हुए । प्रयाग में उन्हें अपनी माता का भी स्मरण
था जिसने इनका पालन किया था तथा अनेक कष्टों को सहा था ॥ ७२ ॥

शुद्धिर्द्रागवसय्य वातैः कङ्गारशीतैरुपसेव्यमानः ।

गी विश्राम तमालशालिन्यत्रान्तरेऽश्रूयत लोकवार्ता ॥ ७३ ॥

अनुष्ठान शीघ्र समाप्त करने पर कमल-वन से बहनेवाली शीतल हवा
जनार्थ के ऊपर पड़ना मूलने लगी । आचार्य ने तमाल से शोभित चौर पर
विश्राम किया । वहाँ लोगों को यह बातचीत करते सुना ॥ ७३ ॥

गिरिवस्तुत्य गतिः सतां यः प्रामाण्यमाम्नायगिरामवादीत् ।

तस्य प्रसादात् त्रिदिवौकसोऽपि प्रपेदिरे प्राक्तनयज्ञभागान् ॥ ७४ ॥

गोप्यं गुरोरुन्मयनप्रसक्तं महत्तरं दोषमपाकरिष्णुः ।

सर्वेष्वेदार्थविदास्तिकत्वात् तुषानलं प्राविशद्देव धीरः ॥ ७५ ॥

सर्वज्ञों के आश्रयभूत जिस पण्डित ने पर्वत से गिरकर वेद-मन्त्रों के
प्राप्त्य को सिद्ध किया था और जिसके प्रसाद से स्वर्गलोक में रहनेवाले
देवताओं ने यज्ञभागों को प्राप्त किया था वही अशेष वेदार्थ को
खोजनेवाले, धीर कुमारिलभट्ट—गुरु के सिद्धान्तों के खण्डन से उत्पन्न
दोषों को हटाने के लिये—आस्तिक होने के कारण भूसे की आग में
जल रहा है ॥ ७४-७५ ॥

अयं ह्यधीताखिलवेदमन्त्रः कूलंकषालोडितसर्वतन्त्रः ।

नितान्तदूरीकृतदुष्टतन्त्रस्त्रैलोक्यविभ्रामितकीर्तियन्त्रः ॥ ७६ ॥

इन्होंने समस्त वेद-मन्त्रों का अध्ययन किया है, अपने किनारे से गिरानेवाली नदी की भाँति सब शास्त्रों का मन्थन किया है, दुष्ट शास्त्रों को भली भाँति दूर खदेड़ दिया है तथा त्रैलोक्य में अपनी कीर्ति का विस्तार किया है ॥ ७६ ॥

कुमारिल से भेट

श्रुत्वेति तां सत्वरमेष गच्छन् व्यालोकयत् तं तुषराशिसंस्पृग् ।

प्रभाकराद्यैः प्रथितप्रभावरूपस्थितं साश्रुमुखैर्विनेयैः ॥ ७७ ॥

इस बात को सुनकर आचार्य ने शीघ्र जाकर भूसे की आग में बैठे कुमारिलभट्ट को देखा । उन्हें आँखों से आँसू बहानेवाले प्रभाकराचार्य शिष्यों से घिरा हुआ पाया ॥ ७७ ॥

धूमायमानेन तुषानलेन संदह्यमानेऽपि वपुष्यशेषे ।

संदृश्यमानेन मुखेन बाष्पपरीतपद्मश्रियमादधानम् ॥ ७८ ॥

आग से खूब धुआँ निकल रहा था । उसने उनके समस्त शरीर को जला दिया था । उनका केवल मुँह दिखलाई पड़ रहा था जिसे वे आँस की बूँदों से ढके हुए कमल के समान सुन्दर मालूम पड़ते थे ॥ ७८ ॥

दूरे विधूताघमपाङ्गभङ्ग्या तं देशिकं दृष्टिपथावतीर्णम् ।

ददर्श भट्टो ज्वलदग्निकल्पो जुगोप यो वेदपथं जितारिः ॥ ७९ ॥

आग के समान चमकनेवाले, शत्रु-विजयी, वेदमार्ग-रक्षक, कुमारिलभट्ट ने नेत्र के कोने से हो पापों को दूर करनेवाले आचार्य को आँखों के सामने आया हुआ देखा ॥ ७९ ॥

अदृष्टपूर्वं श्रुतपूर्ववृत्तं दृष्ट्वाऽतिमोदं स जगाम भट्टः ।

अचीकरच्छिष्यगणैः सर्पर्यामुपाददे तामपि देशिकेन्द्रः ॥ ८० ॥

[सर्ग ७] . . .

भट्टजी ने शङ्कर का पहिले वृत्तान्त सुन रक्खा था परन्तु उन्हें आँखों से नहीं देखा था । उन्होंने शङ्कर को अपनी आँखों से देखकर वे नितान्त प्रसन्न हुए तथा अपने शिष्यगणों से उनकी पूजा करवाई । इसे शङ्कर ने सर्व प्रहण किया ॥ ८० ॥

उपात्तमिक्षः परितुष्टचित्तः प्रदर्शयामास स भाष्यमस्मै ।
सर्वो निबन्धो ह्यमलोऽपि लोके शिष्टेक्षितः संचरणं प्रयाति ॥ ८१ ॥
मिक्षा ग्रहण करने पर शङ्कर ने प्रसन्नचित्त होकर अपना भाष्य उन्हें दिलाया । निर्मल भी प्रबन्ध शिष्ट पुरुषों के द्वारा आलोचित होने पर संसार में प्रसिद्ध हो जाता है ॥ ८१ ॥

॥ रक्षा भाष्यं हृष्टचेताः कुमारः प्रोचे वाचं शङ्करं देशिकेन्द्रम् ।
लोके त्वल्पो मत्सरग्रामशाली सर्वज्ञा नो नाल्पभावस्य पात्रम् ॥ ८२ ॥
भाष्य को देखकर कुमारिल अत्यन्त प्रसन्न हुए और उपदेशकों में शङ्कर से कहा कि संसार में अल्पज्ञ मनुष्य दूसरों से द्वेष करता है परन्तु सर्वज्ञ व्यक्ति इस क्षुद्रता का स्त्र नहीं होता ॥ ८२ ॥

कुमारिल की आत्मकथा

॥ शौ सहस्राणि विभान्ति विद्वन् सद्वार्तिकानां प्रथमेऽत्र भाष्ये ।
अहं यदि स्यामगृहीतदीक्षो ध्रुवं विधास्ये सुनिबन्धमस्य ॥ ८३ ॥
हे विद्वन् ! इस ग्रन्थ के पहिले ही भाष्य (अध्यास भाष्य) में आठ सार वार्तिक प्रोभित हो रहे हैं । यदि मैं दीक्षा नहीं लिये रहता तो यह सुन्दर ग्रन्थ को अवश्य बनाता ॥ ८३ ॥

॥ साक्षाद्दर्शनमेव लोके विशेषतोऽस्मिन् समये दुरापम् ।
उपात्तैः पुण्यचयैः कथंचित् त्वमद्य मे दृष्टिपथं गतोऽभूः ॥ ८४ ॥
आप लोगों का दर्शन हो ऐसे संसार में, विशेषतः इस समय में है । हमारे पूर्व जन्म में उपाजित पुण्यों के कारण ही आप आज मेरे सम्मुख हो रहे हैं ॥ ८४ ॥

असारसंसारपयोब्धिमध्ये निमज्जतां सद्भिरुदारवृत्तैः ।

भवादृशैः संगतिरेव साध्या नान्यस्तदुत्तारविधावुपायः ॥ ८५ ॥

असार संसार-रूपी समुद्र के बीच डूबनेवाले व्यक्तियों के उद्धार के लिये एकमात्र उपाय है । आप जैसे उदारचरित सज्जनों का समागम । इसे छोड़कर पार जाने का कोई उपाय नहीं है ॥ ८५ ॥

चिरं दिदृक्षे भगवन्तमित्थं त्वमद्य मे दृष्टिपथं गतोऽभूः ।

नह्यत्र संसारपथे नराणां स्वेच्छाविधेयोऽभिमतेन योगः ॥ ८६ ॥

आपको देखने की इच्छा मुझे बहुत दिनों से थी, परन्तु आज ही आप मुझे दर्शन दे रहे हैं । इस संसार में मनुष्यों के लिये अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर लेना अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं है ॥ ८६ ॥

युनक्ति कालः कचिदिष्टवस्तुना कच्चित्त्वरिष्टेन च नीचवस्तुना ।

तथैव संयोज्य वियोजयत्यसौ सुखासुखे कालकृते प्रवेदम्यतः ॥ ८७ ॥

इस विषय में काल की महिमा सबसे अधिक कही गई है । कहीं पर मनुष्यों को इष्ट वस्तु से युक्त कर देता है और कहीं पर अस्मिन् कारक नीच वस्तु से । उसी तरह संयोग करके वह वियोग कराता । इसलिये सुख-दुःख को मैं काल-कृत ही मानता हूँ ॥ ८७ ॥

कृतो निबन्धो निरणायि पन्था निरासि नैयायिकयुक्तिजाला

तथाऽन्वभूवं विषयोत्पजातं न कालमेनं परिहर्तुमीशे ॥ ८८ ॥

मैंने ग्रन्थों की रचना की, कर्ममार्ग का निर्णय किया; नैयायिकों युक्ति-जाल को काट गिराया, और ससम्प्र विषयों का उपभोग किया । परन्तु इस काल के हटाने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है ॥ ८८ ॥

निरास्यमीशं श्रुतिलोकसिद्धं श्रुतेः स्वतो मात्वमुदाहरिष्यन् ।

न निहन्तुवे येन विना प्रपञ्चः सौख्याय कल्पेत न जातु विद्वन् ॥ ८९ ॥

श्रुति के स्वतःप्रामाण्य को सिद्ध करने के लिये श्रुति और लोक-सिद्ध ईश्वर का मैंने निराकरण किया है । परन्तु मैं उस ईश्वर का

[सर्ग ७] —

विषय नहीं करता जिसके बिना यह जगत् सुखदायक नहीं हो
सकता ॥ ८९ ॥

टिप्पणी—श्रुति ईश्वर के विषय में डङ्के की चोट कहती है कि सर्वव्यापक
ईश्वर ने जगत् की रचना की है—

“कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः याथातथ्यतोऽर्यान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः
वसम्भूः”—ईशा० ८ ।

लोक-युक्ति यह है—संसार के अखिल कार्यों का कोई न कोई कर्ता अवश्य
है। यह जगत् स्वयं कार्यरूप है अतः इसका भी कोई कर्ता होगा।
यही ईश्वर है। ईश्वर-सिद्धि के लिये सबसे सुन्दर ग्रन्थ उदयनाचार्यकृतं न्याय-
सुषुब्धजलि है जिसमें उन्होंने निम्नलिखित श्लोक में ईश्वर-साधक प्रमाणों का
सूत ही सुन्दर सन्निवेश किया है—

कार्यायेजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।

वासात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥

इस श्लोक के विस्तृत अर्थ के लिए देखिए ‘भारतीय दर्शन’, पृ० २६६-६७ ।

तयागताक्रान्तमभूदशेषं स वैदिकोऽध्वा विरली बभूव ।

परीक्ष्य तेषां विजयाय मार्गं प्रावर्ति संत्रातुमनाः पुराणम् ॥ ९० ॥

समस्त संसार बौद्धों के द्वारा आक्रान्त हो गया था जिससे वैदिक
मार्ग विरल हो गया था। इसकी परीक्षा कर मैंने वेद-मार्ग की रक्षा
के लिये बौद्धों के पराजय करने का उद्योग किया ॥ ९० ॥

शशिष्यसङ्घाः प्रविशन्ति राज्ञां गेहं तदादि, स्ववशे विधातुम् ।

राजा मदीयोऽजिरमस्मदीयम् तदाद्रियध्वं न तु वेदमार्गम् ॥ ९१ ॥

बौद्धों के समुदाय शिष्य और सङ्घ के साथ राजाओं को अपने वश
करने के लिये उनके घर में प्रवेश करते थे और यह घोषित करते थे
कि यह राजा मेरे पक्ष का है, उसका देश हम लोगों का है, इसलिये आप
वेदमार्ग में अद्धा मत रखिए ॥ ९१ ॥

वेदोऽप्रमाणं बहुमानबाधात् परस्परव्याहृतिवाचकत्वात् ।

एवं वदन्तो विचरन्ति लोके न काचिदेषां प्रतिपत्तिरासीत् ॥९१॥

अनेक प्रमाणों से बाधित होने के कारण तथा आपस में विरुद्ध के प्रतिपादन करने से वेद अप्रमाण है । इस प्रकार से कहते हुए वेद देश भर में घूमते थे । इस रोग की कोई दवा नहीं थी ॥ ९२ ॥

टिप्पणी—वेद-प्रामाण्य-विचार—बौद्धों ने वेद के प्रामाण्य को बतलाने में अनेक युक्तियाँ दी हैं जिनका खण्डन मीमांसकों ने बड़े समारोहों के साथ किया है । बौद्धों का पूर्वपक्ष है कि वेद प्रमाणभूत नहीं हैं, क्योंकि (१) कुछ मन्त्र अर्थ-बोध नहीं करते, 'सृण्वेव जर्मरी तुफरी तू' (ऋ० १०।१६।६) मन्त्र में जर्मरी, तुफरी, पर्फरीका, मदेरु आदि शब्द नितान्त निरर्थक (२) कुछ मन्त्र सन्दिग्ध अर्थ के बोधक हैं । 'अघः स्विदासीद् उपरिक्त्वा सीत्' (ऋ० १०।१२६।५) मन्त्र एक ही वस्तु को ऊपर तथा नीचे बतलाते उसकी स्थिति के विषय में सन्देह उत्पन्न करता है । (३) कुछ मन्त्र अर्थ का प्रतिपादन करते हैं । 'शृणोतु प्रावाणः' (तैत्तिरीय सं० १।१।१३) में पत्थरों से सुनने के लिये प्रार्थना की गई है । भला जड़ पत्थरों के भी हो सकते हैं जो हमारी बातें वे सुनेंगे ? (४) कुछ मन्त्र परस्पर-विरुद्ध बातें बतलाते हैं । एक मन्त्र रुद्र की एकता बतलाता है और दूसरा मन्त्र उन्हें उनकी संख्या में बतला रहा है । हम, किसे मानें ? पहले को या दूसरे को ? (५) कुछ मन्त्र लोक-प्रसिद्ध बातों का अनुवाद मात्र करते हैं । किसी बात का बोध नहीं कराते । मीमांसकों का उत्तर पक्ष है कि वेद प्रमाण हैं । वेदों का निराकरण संक्षेप में इस प्रकार है—(१) वेद का कोई भी अर्थ अनर्थक नहीं । व्याकरण तथा निरुक्त की सहायता से प्रत्येक शब्द अर्थ बतलाया जा सकता है । (२) मन्त्रों में सन्दिग्धार्थ प्रतिपादित हैं । जगत्-कारण रूप परम तत्त्व नितान्त गम्भीर है । वह सर्वव्यापक नीचे भी है ऊपर भी । (३) अचेतन वस्तुओं में भी चेतन अभिमानी का निवास है । उन्हीं को लक्ष्य कर जड़ पदार्थों की स्तुति की जाती है ।

१०७ [सर्ग ७]

(४) एक ही रुद्र अपनी महिमा से सहस्र मूर्तियाँ धारण करते हैं। इसमें किसी प्रकार का व्याघात नहीं दीखता। (५) लोक-प्रसिद्ध बातों में भी अमिमानी देवता के अनुग्रह पाने के लिये मन्त्रों में उनका उल्लेख न्यायसङ्गत है। विशेष के लिये द्रष्टव्य जैमिनिसूत्र (१।२।३१—५२) और इन पर शाबरभाष्य तथा तन्त्रवार्तिक; श्लोक वार्तिक—शब्दनित्यताधिकरण पृष्ठ ७२८-८५; सायण—ऋग्वेदभाष्यभूमिका।

अवादिषं वेदविघातदक्षैस्तान्नाशकं जेतुमबुध्यमानः ।

तदीयसिद्धान्तरहस्यवार्धीन् निषेध्यबोधाद्धि निषेध्यबाधः ॥९३॥

इन वेद-विघातक बौद्धों से मैंने शास्त्रार्थ किया परन्तु उनके सिद्धान्त से बिना जाने उन्हें जीतने में समर्थ नहीं हुआ। जिस वस्तु का निषेध करना है उसका ज्ञान होने पर ही उसका खण्डन किया जाता है अन्यथा नहीं ॥ ९३ ॥

तदा तदीयं शरणं प्रपन्नः सिद्धान्तमश्रौषमनुद्धतात्मा ।

अदुषद् वैदिकमेव मार्गं तथागतो जातु कुशाग्रबुद्धिः ॥ ९४ ॥

तदाऽपतन् मे सहसाऽश्रुबिन्दुस्तच्चाविदुः पार्श्वनिवासिनोऽन्ये ।

तदाप्रभृत्येव विवेश शङ्का मय्याप्तभावं परिहृत्य तेषाम् ॥ ९५ ॥

तब होकर मैं बौद्धों की शरण में गया तथा उनके सिद्धान्त को पढ़ा।

उसी एक बार कुशाग्रबुद्धि बौद्ध ने वैदिक मार्ग को दूषित बतलाया। उस

समय सहसा मेरी आँखों से आँसू का बूँद टपक पड़ा। दूसरे विद्या-

र्थियों ने इस बात को जान लिया। उसी दिन से मेरे मैत्रीभाव को दूर

मेरे विषय में बौद्धों का सन्देह जाग उठा ॥ ९४-९५ ॥

विपक्षपाठी बलवान् द्विजातिः प्रत्याददद् दर्शनमस्मदीयम् ।

व्यावर्तनीयः कथमप्युपायैर्नैतादृशः स्थापयितुं हि योग्यः ॥९६॥

‘यह विपक्ष का विद्यार्थी है, बलवान् ब्राह्मण है, हमारे दर्शन को इसने

नष्ट कर लिया है, किन्हीं उपायों से इसे हटा देना चाहिए। ऐसे मनुष्य

को स्थिर करना योग्य नहीं है’ ॥ ९६ ॥

संमन्त्र्य चेत्थं कृतनिश्चयास्ते ये चापरेऽर्हिसनवादशीलाः ।

व्यपातयन्नुच्चतरात् प्रमत्तं मामग्रसौधाद् विनिपातभीरुम् ॥ ९७ ॥

इस प्रकार आपस में मन्त्रणा कर बौद्धों ने यह निश्चय किया और अन्य भी अर्हिसावादियों ने मिलकर मुझे ऊँचे महल की अटारी से नीचे गिरा दिया । मैं स्वयं गिरने से बहुत डरता था ॥ ९७ ॥

पतन् पतन् सौधतलान्यरोरुहं यदि प्रमाणं श्रुतयो भवन्ति ।

जीवेयमस्मिन्पतितोऽसमस्थले मञ्जीवने तच्छ्रुतिमानता गतिः ॥ ९८ ॥

मैं एक अटारी से दूसरी अटारी पर गिरने लगा । तब मैंने जोर से बोल दिया—“यदि श्रुति प्रमाण हैं तो विषम स्थान पर भी गिरकर जीवित रह जाऊँगा ।” मेरे जीवन का साधन (उपाय) वेदों की प्राप्ति ही है ॥ ९८ ॥

यदीह सन्देहपदप्रयोगाद् व्याजेन शास्त्रश्रवणाच्च हेतोः ।

ममोच्चदेशात् पततो व्यनङ्क्षीत् तद्देकचक्षुर्विधिकल्पना सा ॥ ९९ ॥

इस घोषणा में ‘यदि’ इस सन्देहसूचक पद का प्रयोग करने से वह कपट से शास्त्र को सुनने के कारण गिरने पर मेरी एक आँख फूट गई । विधि-विडम्बना ऐसी ही थी ॥ ९९ ॥

एकाक्षरस्यापि गुरुः प्रदाता शास्त्रोपदेष्टा किमु भाषणीयम् ।

अहं हि सर्वज्ञगुरोरधीत्य प्रत्यादिशे तेन गुरोर्महाग्नः ॥ १०० ॥

एक अक्षर का देनेवाला भी गुरु कहलाता है । समग्र शास्त्र का देनेवाला व्यक्ति गुरु है इसमें क्या कहना है ? मैंने अपने बौद्ध गुरु शास्त्र का अध्ययन कर उसका तिरस्कार किया । इस प्रकार मैंने गुरु प्रति महान् अपराध किया है ॥ १०० ॥

तदेवमित्थं सुगतादधीत्य प्राधातयं तत्कुलमेव पूर्वम् ।

जैमिन्युपज्ञेऽभिनिर्विष्टवेताः शास्त्रे निरास्थं परमेश्वरं च ॥ १०१ ॥

[सं० ७]

इस प्रकार बौद्ध गुरु से शास्त्र को पढ़कर उनके कुल का ही पहले मैंने
ब्रह्म किया। जैमिनि मुनि के द्वारा प्रवर्तित शास्त्र में अभिनिवेश रखकर
मैंने परमेश्वर का निराकरण भी किया है। यही हमारे दो अप-
राध हैं ॥ १०१ ॥

दोषद्वयस्यास्य चिकीर्षुरर्हन् यथोदितां निष्कृतिमाश्रयाशम् ।
प्रविक्षमेषा पुनरुक्तभूता जाता भवत्पादनिरीक्षणेन ॥ १०२ ॥

इन दो दोषों के निराकरण करने की इच्छा से मैंने आग में प्रवेश
किया है। यह निराकरण आपके दर्शन से पुनरुक्त के समान हो
गया है ॥ १०२ ॥

भाष्यं प्रणीतं भवतेति योगिन्

आकर्ण्य तत्रापि विधाय वृत्तिम् ।

यशोऽधिगच्छेयमिति स्म वाञ्छा

स्थिता पुरा संप्रुति किं तदुक्त्या ॥ १०३ ॥

हे योगीन्द्र ! आपने भाष्य बनाया है, यह मैंने सुन रक्खा है। उस
पर धृति बनाकर यश प्राप्त करने की मुझे पहले इच्छा थी। परन्तु इस
समय इस बात का कहना ही व्यर्थ है ॥ १०३ ॥

जाने भवन्तमहमार्यजनार्थजात-

मद्वैतरक्षणकृते विहितावतारम् ।

प्रागेव चेन्नयनवर्त्म कृतार्थयेथाः

पापक्षयाय न तदेदशमाचरिष्यम् ॥ १०४ ॥

मैं जानता हूँ कि आर्य जन के कल्याण के लिये तथा अद्वैत-मार्ग की
रक्षा के लिये आपने अवतार ग्रहण किया है। यदि आपका दर्शन मुझे
पहले ही हो गया होता तो मैं तभी कृतार्थ हो जाता और पापों को दूर
करने के लिये यह आचरण करने का अवसर नहीं आता ॥ १०४ ॥

प्रायोऽधुना तदुभयप्रभवाघशान्त्यै

प्राविक्षमार्यं तुर्षपावकमात्तदीक्षः ।

भाग्यं न मेऽजनि हि शाबरभाष्यवत्त्व-

द्भाष्येऽपि किंचन विलिख्य यशोऽधिगन्तुम् ॥ १०५ ॥

इस समय इन दोनों दोषों से उत्पन्न पाप की शान्ति के लिये दीक्षा ग्रहण कर मैं भूसे की आग में अपने को जला रहा हूँ। शाबर भाष्य के ऊपर वार्तिक लिखने के समान आपके भाष्य पर वार्तिक लिखकर यह कमाना मेरे भाग्य में लिखा नहीं था ॥ १०५ ॥

इत्पुचिवांसमथ भट्टकुमारिलं त-

मीषद्विकस्वरमुखाम्बुजमाह मौनी ।

श्रुत्यर्थकर्मविमुखान् सुगतान्निहन्तुं

जातं गुहं भुवि भवन्तमहं तु जाने ॥ १०६ ॥

इतना कहनेवाले, कुछ प्रसन्नवद्वन होनेवाले कुमारिल भट्ट ने शङ्कराचार्य बोले—मैं आपको श्रुति-प्रतिपादित कर्ममार्ग से विमुख बौद्धों को मारने के लिये पृथ्वी पर अवतार लेनेवाला स्वामी कर्त्तव्य मानता हूँ ॥ १०६ ॥

सम्भावनाऽपि भवतो नहि पातकस्य

सत्यं व्रतं चरसि सज्जनशिक्षणाय ।

उज्जीवयामि कर्तृकाम्बुकणोक्षणेन

भाष्येऽपि मे रचय वार्तिकमङ्गं भव्यम् ॥ १०७ ॥

आपके चरित्र में पातक की सम्भावना भी नहीं है। आप सत्यव्रत सज्जनों को सिखलाने के लिये कर रहे हैं। मैं हाथ से कलिल जलविन्दुओं को छिड़ककर आपको जिला देता हूँ। आप मेरे भाष्य पर अपने सुन्दर 'वार्तिक' की रचना कीजिए ॥ १०७ ॥

[सर्ग ७]

इत्युचिवांसं विबुधावतंसं स धर्मविद् ब्रह्मविदां वरेण्यम् ।
विद्याधनः शान्तिधनाग्रगण्यं सप्रश्रयं वाचमुवाच भूयः ॥१०८॥

इस प्रकार कहनेवाले विद्वानों में अग्रणी, ब्रह्मवेत्ताओं में शिरोमणि,
बापों के अग्रगण्य शङ्कर से वह धर्मवेत्ता ब्राह्मण विनयपूर्वक
फिर बोले ॥ १०८ ॥

नार्हामि शुद्धमपि लोकविरुद्धकृत्यं
कर्तुं मयीड्य महितोक्तिरियं तवार्हा ।

आजानतोऽतिकुटिलेऽपि जने महान्त-

स्त्वारोपयन्ति हि गुणं धनुषीव शूराः ॥ १०९ ॥

कुमारिल—हे पूज्य ! शुद्ध होने पर भी लोक से विरुद्ध कार्य करने
में मैं अपने को योग्य नहीं समझता । यह श्रेष्ठ उक्ति तुम्हारे ही योग्य
है । ब्रह्मानी, महान् पुरुष अत्यन्त कुटिल भी मनुष्य के ऊपर उसी प्रकार
गुण का आरोप करते हैं जिस प्रकार शूर कुटिल धनुष के ऊपर प्रत्यञ्चा
(धनुष की डोर) का ॥ १०९ ॥

संजीवनाय चिरकालमृतस्य च त्वं

शक्तोऽसि शङ्कर दयोर्मिलदृष्टिपातैः ।

आरब्धमेतदधुना व्रतमागमोक्तं

मुञ्चन् सतां न भवितास्मि बुधाविनिन्यः ॥११०॥

हे शङ्कर ! आप अपनी दयामयी दृष्टि डालकर बहुत देर से मरे हुए
यो पुरुष को जीवित करने में समर्थ हैं । मैंने अभी इस वेद-विहित व्रत का
आरम्भ किया है । यदि मैं इसे छोड़ देता हूँ तो सबजनों की दृष्टि में
अनिन्दनीय नहीं रहूँगा ॥ ११० ॥

जाने तवाहं भगवन् प्रभावं

संहृत्य भूतानि पुनर्यथावत् ।

सप्तुं समर्थोऽसि तथाविधो मा-

मुञ्जीवयेश्चेदिह किं विचित्रम् ॥ १११ ॥

३२

हे भगवन् ! मैं आपके प्रभाव को जानता हूँ । आपमें इतनी शक्ति है कि संसार का संहार कर फिर उसी तरह आप उसे बना सकते हैं । आप मुझे जिला देंगे इसमें कौनसी विचित्र बात है ॥ १११ ॥

नाभ्युत्सहे किन्तु यतिक्षितीन्द्र सङ्कल्पितं हातुमिदं व्रताग्रपू।
तत्तारकं देशिकवर्य महापादिश्य तद् ब्रह्म कृतार्थयेयाः ॥ ११२ ॥

हे यतिराज ! इस सङ्कल्पित व्रत को मैं छोड़ नहीं सकता । मैं हे उपदेशक-शिरोमणि ! आप तारक ब्रह्म राम-नाम का उपदेश देकर मुझे कृतार्थ कीजिए ॥ ११२ ॥

अयं च पन्था यदिन्ते प्रकाश्यः

सुधीश्वरो मण्डनमिश्रशर्मा ।

दिगन्तविश्रान्तयशा विजेयो

यस्मिन् जिते सर्वमिदं जितं स्यात् ॥ ११३ ॥

यदि आप वेदान्त-मार्ग को प्रकाशित करना चाहते हों तो विद्वानों, श्रेष्ठ, दिगन्तों में कीर्तिशाली मण्डन मिश्र को जीतिए । उनके जीतने पर सब कुछ जीता जा सकता है ॥ ११३ ॥

सदा वदन् योगपदं च साम्प्रतं स विश्वरूपः प्रथितो महीतले
महागृही वैदिककर्मतत्परः प्रवृत्तिशास्त्रे निरतः सुकर्मठः ॥ ११४ ॥

वे विश्वरूप नाम से विख्यात सदा कर्मयोग के मार्ग का उपाय देते हुए भूतल पर प्रसिद्ध हैं । वे वैदिक कर्म में तत्पर, प्रवृत्ति-मार्ग निरत, कर्मठ, महान् गृहस्थ हैं ॥ ११४ ॥

निवृत्तिशास्त्रे नकुतादरः स्वयं

केनाप्युपायेन वृशं स नीयताम् ।

वशं गते तत्र भवेन्मनोरथ-

स्तदन्तिकं गच्छतु मा चिरं भवान् ॥ ११५ ॥

सां ७

निवृत्ति-मार्ग में उन्होंने कभी आदर नहीं दिखलाया है। किसी प्रकार उन्हें अपने वश में कीजिए। उनके वश होने पर आपका मनोरथ अवश्य सिद्ध होगा। उनके पास जाइए, देर न कीजिए ॥ ११५ ॥

उवेक इत्यभिहितस्य हि तस्य लोकै-
रुवेति बान्धवजनैरभिधीयमाना ।

हेतोः कुतश्चिदिह वाक्सुरुषाऽभिज्ञा
दुर्वाससाऽजनि वधूर्द्धयभारतीति ॥ ११६ ॥

लोगों में उनका नाम उवेक है, उनकी स्त्री को बन्धुजन उवा (अम्मा) नाम से पुकारते हैं। किसी कारण रुष्ट होकर दुर्वासा ने उन्हें आप दिया था। स्वयं सरस्वती यहाँ जन्म लेकर उनकी वधू बनो हुई हैं और इस समय इनका नाम 'उभयभारती' है ॥ ११६ ॥

सर्वासु शास्त्रसरणीषु स विश्वरूपो
मत्तोऽधिकः प्रियतमश्च मदाश्रवेषु ।
तत्प्रेयसीं शमधनेन्द्र विधूय साक्ष्ये
वादे विजित्य तमिमं वशगं विधेहि ॥ ११७ ॥

वह 'विश्वरूप' सब शास्त्रों में मुझसे अधिक है तथा मेरे विद्यार्थियों में सर्वश्रेष्ठ है। हे तापसों में श्रेष्ठ ! उनकी स्त्री को साक्षी बनाकर आप विद्यार्थी में उन्हें जीतकर अपने वश में कीजिए ॥ ११७ ॥

तेनैव तावककृतिष्वपि वार्तिकानि
कर्मन्दिवर्यतम कारय मा विलम्बम् ।

तं विश्वनाथ इव मे समये समाग-
स्तत्तारकं समुपदिश्य कृतार्थयेयाः ॥ ११८ ॥

हे यतिवर ! आपके भाष्य के ऊपर वही वार्तिक बनायेगा। देर न कीजिए। विश्वनाथ की तरह आप मेरे समय पर उपस्थित हुए हैं। तारक का उपदेश देकर आप मुझे कृतार्थ कीजिए ॥ ११८ ॥

निर्व्याजकारुण्य मुहूर्तमात्रमत्र त्वया भाव्यमहं तु यावत् ।
योगीन्द्रहृत्पङ्कजभाग्यमेतत् त्यजाम्यसूत्र रूपमवेक्षमाणः ॥११९॥

हे बिना कारण के कृपा करनेवाले ! आप एक क्षण के लिये उपस्थित
रहिए, जब तक मैं योगीन्द्रों के द्वारा हृदय-कमल में चिन्तनीय आत्म
रूप को देखता हुआ अपने प्राणों को छोड़ दूँ ॥ ११९ ॥

इत्युचिवांसमिममिद्धसुखप्रकाशं

ब्रह्मोपदिश्य बहिरन्तरपास्तमोहम् ।

तन्वन् दयानिधिरसौ तरसाऽभ्रमार्गात्

श्रीमण्डनस्य निलयं स इयेष गन्तुम् ॥ १२० ॥

इस प्रकार कहनेवाले कुमारिल भट्ट को सुख, प्रकाश-रूप का
का उपदेश देकर तथा भीतर और बाहर के मोह को दूर कर दयानि
शङ्कर आकाश-मार्ग से मण्डन के घर जाने के लिये तैयार हो गये ॥१२०॥

अथ गिरमुपसंहृत्याऽऽदराद्भट्टपादः

शमधनपतिनाऽसौ बोधिताद्वैततत्त्वः ।

प्रशमितममतः संस्तत्प्रसादेन सद्यो

विदलदखिलबन्धो वैष्णवं धाम-पेदे ॥ १२१ ॥

उपदेश सुनने के बाद कुमारिलभट्ट ने शब्द बोलना बन्द
दिया । यतिश्रेष्ठ शङ्कर के द्वारा अद्वैत-तत्त्व का बोध हो जाने
ममता को शान्त कर, उनके प्रसाद से समस्त बन्धनों को काटकर,
विष्णुलोक में चले गये ॥ १२१ ॥

इति श्रीमाधवीये तद्गव्याससन्दर्शचित्रगः ।

संक्षेपशङ्करजये सर्गोऽसौ सप्तमोऽभवत् ॥ ७ ॥

“माधवीय शङ्करदिग्विजय” में व्यासदेव के विचित्र दर्शन के

प्रतिपादन करनेवाला सप्तम सर्ग समाप्त हुआ ।